

द्वितीय कमलादेवी चट्टोपाध्याय  
स्मृति व्याख्यान

हस्तकलाएँ और शिक्षा

---

प्रोफेसर कृष्ण कुमार

12 फरवरी, 2011



साँस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र

© साँस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, 2012

सभी अधिकार सुरक्षित, इस प्रकाशन का कोई हिस्सा निदेशक, साँस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, के पूर्व लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में प्रकाशित नहीं किया जा सकता है।

## कमलादेवी चट्टोपाध्याय

एक अज़ीम शख़सियत और अपने विद्यार्थी जीवन में भारत की बेताज मलिका (रानी) के रूप में प्रख्यात कमलादेवी चट्टोपाध्याय सौंदर्य, समझदारी, प्रतिबद्धता और साहस से परिपूर्ण दुर्लभ व्यक्तित्व की मालिक थीं। बचपन से ही उनके व्यक्तित्व में सुन्दरता तथा अपनी माता, दादी मां एवं ब्रिटिश विस्तावरवादी मार्ग्रेट कजिन द्वारा प्रदत्त जीवन मूल्यों का समावेश परिलक्षित होता था। सारांश में कहें तो महिलाओं की एक पीढ़ी ने जो मूल्य उनमें समावेशित किये, उन्होंने लगभग सात दशकों से अधिक समय तक कमलादेवी जी के जीवन का मार्गदर्शन किया। कमलादेवी चट्टोपाध्याय भारतीय महिलाओं की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो न केवल जेल के अन्दर - बाहर जाती स्वंत्रता सेनानी ही थीं वरन् भारतीय महिलाओं को संकीर्ण सामाजिक, आर्थिक सीमाओं से मुक्त करने में भी उत्तरदायी थीं।

इस लम्बी यात्रा में कमलादेवी जी सुस्पष्ट राजनैतिक नेतृत्व, शक्ति लोलूपता से दूर रहीं। कोई भी सार्वजनिक (या जन) कार्यालय/ क्षेत्र उन्हें आकर्षित नहीं कर सका, बल्कि जनता को दुख-दर्दों से राहत दिलाने का उनका मिशन ही उनको प्रिय था।

देश के विभाजन के बाद वह महिला राहत आन्दोलन में सक्रिय रहीं। उन्होंने फरीदाबाद शरणार्थी शिविर में अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सेवा की।

महात्मा गांधी के सान्निध्य और आर्थिक अशक्तिकरण के सृजन तथा उनकी कर्तव्यनिष्ठा ने भारतीय सहकारिता आन्दोलन को ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। उनके अभियान, आंचलिक स्तर पर उनके कार्य और वकालत ने भारतीय हथकरघा एवं हस्तशिल्प को मान्यता प्रदान की। उन्होंने न केवल शिल्पकारों को पल्लवित किया बल्कि उन्हें एवं उनके उत्पादों को सम्मान दिलाया। इन तमाम तथा उनके और भी

अन्य कार्यों से आज की पीढ़ी की रूचि में व्यापक परिवर्तन का प्रादुर्भाव हुआ। आज देश-विदेश में बाजार मूल्य एवं आर्कषण की दृष्टि से हस्तशिल्प क्षेत्र को मान्यता प्राप्त है। अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड तथा अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड जैसी प्रमुख संस्थाओं का अस्तित्व में आना भी उनके सक्रिय समर्थन का ही परिणाम था।

कमलादेवी जी के लिये जीवन - हाथ, दिल एवं दिमाग, की अन्तर्निहित तथा दृढ़प्रतिज्ञ प्रतिबद्धता थी। एक महिला होने के बावजूद उन्होंने अपनी युवावस्था में एक रंगकर्मी के रूप में रुढ़िवादिता को चुनौती दी। कलाएँ, वो चाहे संगीत हो, नृत्य, रंगमंच या हस्तशिल्प हो, उनका प्रेम और जुनून था। ऐसा कोई अवसर नहीं था जब उन्होंने दूरदराज की हथकरघा या हस्तशिल्प या फिर गुमनाम रंगमंचीय शैली को संरक्षित, उन्नत एवं उन्हें प्रस्तुत करने के लिये खोज न की हो।

उन्हें एक और अभियान पूर्ण करना था, वह था, हमारी वैविध्यपूर्ण, समृद्ध और जीवंत परम्पराओं को औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के साथ जोड़ना। यह उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक हस्तकौशल, सृजनशीलता, मस्तिष्क की तार्किक बौद्धिमता एवं स्पंदित हृदय में साम्य नहीं है तब तक एक पूर्ण मानव होना संभव नहीं होता। यही वो दृष्टिकोण एवं स्वीकारोक्ति थी जिसने भारत सरकार को सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना करने के लिये प्रेरित किया।

**डा. कपिला वात्स्यायन**

## कमलादेवी चट्टोपाध्याय

### व्यक्तिगत विवरण

3 अप्रैल, 1903, मंगलौर, कर्नाटक में जन्म

29 अक्टूबर, 1988, मुंबई, महाराष्ट्र में देहावसान

### मुख्य प्रकाशन:

1. द अवेकनिंग ऑव इंडियन वुमन, मद्रास, एवरीमेंस प्रेस, 1939
2. टुवॉ:इज़ ए नेशनल थियेटर, औंध पब ट्रस्ट, 1945
3. सोशियेलिज्म एंड सोसायटी, बोंबे (मुंबई): चेतना, 1950
4. इंडियन हैनडिक्राफ़्ट्स, नयी दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स प्रा. लि., 1963
5. कार्पेट्स एंड फ्लोर कवरिंग्स ऑव इंडिया, मुंबई तारापोरवाला, 1969
6. द ग्लोरी ऑव इंडियन हैनडिक्राफ़्ट्स, नयी दिल्ली, इंडिया बुक कम्पनी, 1976
7. इंडियन कार्पेट्स एंड फ्लोर कवरिंग्स, नयी दिल्ली, ऑल इंडिया हैनडिक्राफ़्ट्स बोर्ड, 1974
8. हैनडिक्राफ़्ट्स ऑव इंडिया, नयी दिल्ली, इंडियन काउन्सिल फॉर कल्चरल रिलेशंस, 1975
9. ट्राइबलिज्म इन इंडिया, लेइडन: ब्रिल, 1978
10. इंडियन एम्ब्रॉयडरी, नयी दिल्ली, विले इस्टर्न, 1977
11. द ग्लोरी ऑव इंडियन हैनडिक्राफ़्ट्स, नयी दिल्ली, इंडियन बुक कम्पनी, 1978
12. इंडियन विमंस बैटल फॉर फ्रीडम, नयी दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशंस, 1983
13. इनर रिसेसेस, आउटर स्पेसेस : मे'म्वाज, नयी दिल्ली, नवरंग, 1986

## प्रमुख पुरस्कार एवं पहचान

1. 1955, में पद्मभूषण, भारत सरकार द्वारा
2. 1966, में रोमन मेगसेसै अवार्ड फॉर कम्यूनिति लीडरशिप
3. 1974, में 'रत्न सदस्य' द लाइफटाइम अचीवमेंट अवार्ड, 'संगीत नाटक अकादमी' द्वारा
4. 1977, में यूनेस्को द्वारा प्रमोशन ऑव हैनडिक्राफ़्ट्स पुरस्कार
5. 1987, में पद्मविभूषण, भारत सरकार द्वारा

## प्रोफेसर कृष्ण कुमार

प्रोफेसर कृष्ण कुमार केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हैं। वे वर्ष, 2004 से 2010 तक एनसीईआरटी, नई दिल्ली के निदेशक रहे। प्रोफेसर कृष्ण कुमार, सेण्टर फॉर द एडवांस्ड स्टडी ऑव इण्डिया, पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सेण्टर फॉर मॉडर्न ओरियण्टल स्टडीज़, बर्लिन, जर्मनी में विजिटिंग फेलो हैं। इन्होंने हाऊस ऑव लॉर्ड्स, लंदन में ग्लेडविन व्याख्यान सहित अनेक स्मृति व्याख्यान दिए हैं। वर्ष, 2011 में इन्हें इंस्टीट्यूट ऑव एंड्यूकेशन, लंदन विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा में डी.लिट् की मानद उपाधि प्रदान की गई। भारत सरकार द्वारा प्रोफेसर कृष्ण कुमार को पद्मश्री से सम्मानित किया गया। प्रोफेसर कृष्ण कुमार हिन्दी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखते हैं। उनकी कुछ पुस्तकें हैं- *राज, समाज और शिक्षा*; *वॉट इज वर्थ टीचिंग*; *पॉलिटिकल एजेण्डा ऑफ एंड्यूकेशन*; *विचार का डर*; *लर्निंग फ्रॉम कॅन्फ्लिक्ट*; *शिक्षा और ज्ञान*; *द चाइल्ड्स लैंग्वेज एण्ड द टीचर*; *ए पैडागोगज़ रोमेंस्*। हाल के वर्षों में प्रोफेसर कृष्ण कुमार शांति शिक्षा पर पाठ्यक्रम पढ़ा रहे हैं, इस विषय पर उनकी रूचि भारत तथा पाकिस्तान के स्कूलों में उपयोग में लाई जाने वाली इतिहास की पाठ्य पुस्तकों के तुलनात्मक अध्ययन पर जवाहरलाल नेहरू फेलो के रूप में कार्य करते हुए विकसित हुई। उनका यह कार्य पुस्तक के रूप में प्रे'जउडिस एण्ड प्राइड शीर्षक से प्रकाशित है। इसी के बाद उनकी पुस्तक *बैटल फॉर पीस*, भारत तथा पाकिस्तान के विद्वेष के मनोवैज्ञानिक जड़ों की खोज करती है। वे हिन्दी भाषा के लघु कथा लेखक और स्तम्भ लेखक हैं एवं बच्चों के लिए भी लिखते हैं। आजकल वे बालिकाओं की अवस्था के अध्ययन में व्यस्त हैं।

## हस्तकलाएँ और शिक्षा

प्रोफेसर कृष्ण कुमार

कमलादेवी जी के जीवन एवं व्यक्तित्व में मैंने गाँधी की छवि और उनकी दृष्टि देखी। ऐसी दृष्टि जो मेरी पीढ़ी के लोगों को केवल वैचारिक रूप से सुलभ हो सकती है क्योंकि हम गाँधी हत्या के काफी समय बाद पैदा हुए। कमलादेवी जी के जीवन में ऐसी समग्रता देखने को मिलती है जो आज के भारत में दुर्लभ है। मेरे मन में एक बड़ी दुविधा भाषा को लेकर थी। भाषा उस तरह का सवाल है जिस के संदर्भ में हिन्दुस्तान के मन के दो टुकड़े हो जाते हैं। पहला टुकड़ा दिमाग का है जो हमें दुविधा के उस पहलू की याद दिलाता है जो हमारी गुलामी से जुड़ा है। हिन्दुस्तान के मन का दूसरा टुकड़ा दिल से बनता है जो यह जानता है कि हम अपनी भाषाओं को इस्तेमाल करते हुए हमेशा एक प्रकार की सचेतनता से गुजरते हैं। हम सोचते हैं कि क्या अपनी मातृभाषा में मन की बात रख सकेंगे? उच्च शिक्षा के दायरे से अन्य भाषाएँ पहले ही बेदखल थीं, हिन्दी भी बेदखल हो गई है। इसलिए कमलादेवी जी की स्मृति में आयोजित इस व्याख्यान को लेकर एक दुविधा मेरे मन में थी। जिस अंग्रेज शासन से लड़ते हुए उनकी जिंदगी का सबसे संघर्षमय हिस्सा बीता, वह शासन तो चला गया लेकिन उसके जाने के बाद भी एक तरह की गुलामी हमारी पीढ़ी को दिखलायी दी। मेरी आज की दुविधा थी कि उस गुलामी को अपने विमर्श में जगह पाने से कैसे रोक्ँ।

इन सब दुविधाओं के बीच कमलादेवी जी के एक संस्मरण से मुझे कुछ प्रेरणा मिली। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में इस तरह के कई प्रसंग संभवतः उनके सामने आए होंगे। इनमें से एक प्रसंग पंजाब के एक बच्चे का था जो अपने जानवर चराते हुए पाकिस्तान की सीमा में चला गया था और वहाँ उसको गिरफ्तार कर लिया गया था। तमाम तरह के राजनैतिक और राजनयिक, पत्रकारीय और अन्य किस्म के प्रयासों



के बावजूद पाकिस्तान सरकार ने उसको छोड़ने में कोई पहल नहीं दिखाई थी। ऐसी स्थिति में किसी तरह से उस बच्चे के माता-पिता को कमलादेवी जी के बारे में मालूम चला। उन्हें लगा कि संभवतः कमला जी के प्रयास से शायद कुछ हो सकता है। कमलादेवी जी ने तत्कालीन पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल ज़िया उल हक़ को एक पत्र लिखा और उस पत्र के उत्तर में उन्होंने बच्चे को छोड़ दिया।

उस समय मुझे भारत और पाकिस्तान के संबंध में बहुत ज्ञान नहीं था, संज्ञान भी विशेष नहीं था। इस घटना के कई वर्षों बाद मैंने भारत और पाकिस्तान के संबंधों पर व्यवस्थित रूप से कुछ पढ़ने की शुरुआत की। जब यह शुरुआत की तब मुझे ध्यान आया कि बच्चे की रिहाई का किस्सा सत्ता के उस स्वरूप से जुड़ा हुआ था जिसको गाँधी जी ने चुनौती देने की कोशिश की थी। सत्ता का यह स्वरूप उसे राज्य के साथ जोड़ता है। कमलादेवी जी ने जिस तरह की सत्ता का उपयोग करते हुए राष्ट्रपति ज़िया उल हक़ से इस बच्चे को छुड़वाया, वह सत्ता राज्य की नहीं थी, वह एक तरह की नैतिक सत्ता थी। इस नैतिक सत्ता के नमूने उस पीढ़ी को बहुत कम देखने को मिले जो आज़ादी के बाद पैदा हुई। मैं भी उसी पीढ़ी में शामिल हूँ। हम लोगों को अपने समय में इस नैतिक सत्ता का स्पर्श भी बहुत कम मिला। इस कारण मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मैंने एक बार कमलादेवी जी को देखा था। उनके निधन के एक वर्ष बाद इंडिया इंटरनेशनल सेंटर ने उनकी स्मृति में हबीब तनवीर से 'हिरमा की अमर कहानी' नाटक की प्रस्तुति का अनुरोध किया था। वह नाटक हमें याद दिलाता है कि दक्षिण एशिया में जिस तरह से राज्य का गठन हुआ है, वह स्वयं हमारे विकास के रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा और समस्या है। जब तक हम स्वयं उस राज्य, जिसको पाने के लिए हमने इतनी बड़ी लड़ाई लड़ी, और उसके स्वरूप पर दोबारा, नए सिरे से, कल्पनाशीलता के साथ विचार नहीं करेंगे, तब तक गुलामी की वे तमाम प्रेतात्माएँ, परछाइयाँ हमारे साथ रहेंगी, हम हिन्दुस्तान को तब तक एक मौलिक संस्कार देने में असमर्थ रहेंगे। एक तरफ हम उसकी

परम्पराओं पर वापस लौटेंगे और संकीर्ण हृदय के साथ प्राचीन भारत को दोबारा लाने की कल्पना करेंगे जो हमारी हिंसा को बढ़ायेगी। दूसरी तरफ हम पश्चिम जैसा बनते हुए कहीं-कहीं उसमें अपना पुट दिखाने की कोशिश करेंगे और बिखरते जाएँगे। डा. कपिला वात्स्यायन ने थोड़ी देर पहले जिस समग्रता की चर्चा की, क्या उस तरह की समग्रता का कोई एक संस्थाई स्वरूप कहीं दिखाई दे सकता है?

यह सवाल मेरे मन में पहली बार दरअसल 'लोक विरसा' को देखते हुए कौंधा। 'लोक विरसा' पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद से लगभग आठ किलोमीटर दूर बनाया गया एक संग्रहालय है। इस संग्रहालय की चर्चा आज कमलादेवी जी की स्मृति में करना और इस चर्चा से ही अपनी बात शुरू करना मुझे कई अर्थों में महत्वपूर्ण लगता है। 'लोक विरसा' को देखने के लिए मैंने विदेशियों वाला प्रवेश शुल्क दिया। एक आम पाकिस्तानी दस रूपये में प्रवेश करता है, मुझे तीन सौ रूपये देने पड़े और यही स्थिति पाकिस्तान के नागरिकों की होती है जब वे हमारा राष्ट्रीय संग्रहालय देखने आते हैं या भारत में कोई और ऐतिहासिक जगह देखते हैं। 'लोक विरसा' एक ऐसी जगह है जिसका विवरण इस तरह से दे पाना बहुत मुश्किल है कि आप उसकी कल्पना कर सकें। यह कहते हुए बड़ा अटपटा लगता है कि हमने अपनी लोक वार्ता और लोक परंपराओं के लिए इतना भव्य कुछ भी नहीं बनाया है। यह कहते हुए मैं कोई बवेला नहीं खड़ा करना चाहता। मैं केवल एक एहसास को दोहरा रहा हूँ या याद कर रहा हूँ जो मुझे 'लोक विरसा' में दो बार तीन-तीन घण्टे बिताते हुए यकायक हुआ। जिस चीज़ को हम लोग दस्तकारी कहते हैं या लोक कलाएँ कहते हैं, लोक वार्ता कहते हैं, इन तमाम नामों से उसको जानते हैं, वह दरअसल कोई कौशल नहीं है और न ही वह कोई कला है। इस बात को कपिला जी कई वर्षों से लिखती रही हैं, बोलती रही हैं, लेकिन यह बात मुझे पाकिस्तान में ही समझ आई। 'लोक विरसा' में घूमते हुए यह एहसास हुआ कि दरअसल यह दस्तकारी है ही नहीं, यह ज़िदगी है। ज़िदगी के हर हिस्से में प्रवेश करने वाली यह एक प्रकार की जीवन कला है जो इतिहास के तमाम संघर्षों के दौरान बिखर गई है।

हम आज इधर-उधर उसके कहीं कोई टुकड़े देखते हैं, कहीं कोई रोशनी देखते हैं, कहीं कोई नाटक की परम्परा देखते हैं, कहीं कोई शब्द सुनते हैं, कोई गुनगुनाहट हमारे आस-पास से गुजरती है। हमें लगता है कि हाँ हम कुछ समझे हैं और इसलिए हम उसके संरक्षण की कोशिश करते हैं। हम सोचते हैं कि इसको किस प्रकार आने वाली पीढ़ियों के लिए, ज़िन्दा नहीं तो मरे हुए रूप में ही, कहीं सुरक्षित रख लें, उसे आलेख के रूप में लिपिबद्ध कर दें जो आजकल संरक्षण का एक बहुत बड़ा माध्यम मान लिया गया है।

‘लोक विरसा’ देखते हुए मैंने यह जाना कि ऐसे प्रयास कितने व्यर्थ होंगे। कई कारणों से ‘लोक विरसा’ एक बहुत अजीब जगह है और आप उसकी तुलना दुनिया के किसी और संग्रहालय से नहीं कर सकते। जिस भी तरह से पाकिस्तान के, वहाँ के लोकवार्ता विभाग ने इसे बनाया है, कैसे वहाँ की नौकरशाही और वहाँ की राजनीति के बीच में से उसको निकाला है मुझे नहीं मालूम, लेकिन मुझे यह एहसास वहाँ घूमते हुए जरूर हुआ कि जब भी आप किसी लोक कला के टुकड़े को हाथ में लेते हैं या किसी चीज़ को देखते हैं; एक मिट्टी के खिलौने को देखते हैं या किसी कपड़े पर बनाए गए किसी नमूने को देखते हैं तो दरअसल हमारे पास आज उसको समझने के लिए न तो सोच के पर्याप्त दायरे होते हैं और न ही शब्द होते हैं। हम एक अनोखी सी चीज़ देख रहे होते हैं और यह एहसास शायद सबसे पहला एहसास होता है। अगर हम अपने दिल और दिमाग के बँटवारे को पाटकर उन्हें दोबारा इकट्ठा करना चाहते हैं तो यह एहसास बहुत जरूरी है कि हम पहले अपने बिखराव को समझें और उसे आत्मसात करें। ऐसा करते समय ऐतिहासिक विनम्रता चाहिए, न कि इस बात का घमंड कि हम उसको आसानी से जीत लेंगे। ‘लोक विरसा’ में घूमते हुए यह पता लगता है कि जो तमाम कलाएँ हैं, जिनको हम अलग-अलग संस्थाओं के ज़रिए सम्भालते हैं, कहीं संगीत, कहीं नाटक, कहीं मूर्ति, कहीं मिट्टी की कलाएँ, तो कहीं उनको यह नाम देते हैं कि ये दस्तकारियाँ या हस्तकौशल हैं, जबकि ये कला की

शास्त्रीय परम्पराएँ हैं। जिस भी तरह से हम ये तमाम नामकरण करते हैं और वर्गीकरण करते हैं, वह सब दरअसल एक तरह से गलत होता है, क्योंकि उस सबके केन्द्र में ज़िन्दगी का जो एक चित्र है वह हमारी नज़रों से ओझल हो चुका है। हम जितना भी प्रयास उस चित्र के अलग-अलग टुकड़ों को जोड़ने का करते हैं, उतना और भटकते जाते हैं। अपनी इस खोज में और यह समझने में असमर्थ रहते हैं कि दरअसल यह घटना बहुत बड़ी घटना है और उसके लिए जिस तरह का प्रयास जरूरी है वह अवश्य बहुत गहरा प्रयास होगा जिसमें संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था सभी का एक तरह से पुनर्योजन करना होगा। तब जा कर के कहीं हमको समझ में आएगा कि हम क्या करें। सिर्फ अपने देश में ही नहीं, बल्कि उन देशों में भी जो एक बहुत बड़ी कल्पना के और एक बहुत बड़ी ज़िन्दगी के हिस्से हैं जिनको आज हम अलग-अलग नामों से दक्षिण एशिया में जानते हैं। उस संग्रहालय को देखते हुए उस प्रकार की समझ की हल्की-सी रोशनी मेरे दिमाग में कौंधी। अंग्रेजी का एक शब्द है 'सेरेन्डिपिटी' जिसके मायने हैं कि आप कोशिश नहीं कर रहे हैं किसी चीज़ को खोजने की, पर वह अचानक आपको दिखलाई देती है। बहुत सोच कर मैंने हिन्दी में उसके लिए शब्द गढ़ा है 'आलस्यप्रभा'। जब आप अलसाएँ हुए हों और वह रोशनी अचानक किसी प्रभा की तरह चमके तो आप कह सकते हैं कि वह एक प्रकार का 'सेरेन्डिपिटस' ज्ञान है जो आपको अचानक मिलता है, आलस्यप्रभा के ज़रिए।

उसी संग्रहालय में मुझे इस बात का भी थोड़ा-सा गहरा एहसास हुआ कि जिसको हम लोग विविधता कहकर महिमामंडित करते हैं और तरह तरह से उसके गीत गाते हैं, उसका गुणगान करते हैं, कई बार चारणों की तरह उसकी पूजा करते हैं, वह दरअसल क्या चीज़ है जिसको हम भारत की विविधता और एकता से जोड़ते हैं। 'लोक विरसा' पाकिस्तान का संग्रहालय है पर वहाँ रहते हुए कई बार यह एहसास खो जाता है कि मैं इस समय पाकिस्तान में हूँ और उस राजधानी से आठ किलोमीटर दूर हूँ जहाँ मेरे ही सामने, मेरे ही होटल के आस-पास एक भयानक विस्फोट

हुआ था। कई बार लगता है कि हम पाकिस्तान में नहीं हैं, भारत में हैं। एक बहुत बड़ी धर्म की चादर, वह जैसे वहाँ उघड़-सी जाती है और जैसे-जैसे आप 'लोक विरसा' के बहुत विशाल और भव्य आँगन में घूमते हैं, उन गलियारों में घूमते हैं तो कई जगह यह एहसास होता है कि धर्म, उसको किसी भी रूप में आप परिभाषित करें, वह कभी संस्कृति का सर्वांग नहीं हो सकता। खासकर अगर आप उसको अंग्रेजी के 'रिलिजन' शब्द से जोड़ते हैं तो दक्षिण एशिया में वह संस्कृति का पर्याय नहीं हो सकता। संस्कृति, वाणी और हाथों की स्वतंत्रता कहीं ज़्यादा बड़ी चीज़ है और वह चीज़, आज बावजूद उस देश के तमाम दुर्भाग्यों के, पाकिस्तान में अभी ज़िन्दा है। यह सवाल मेरे मन में पैदा हुआ कि क्या यह पाकिस्तान का एक आंतरिक चेहरा है जो उस बाहरी चेहरे से बिल्कुल भिन्न है जिस पर खरोंचे और खून रोज़ ही नए सिरे से दिखलायी देता है? क्या उस आंतरिक चेहरे में कोई चीज़ सुरक्षित है जिसको संरक्षित करने की भी जरूरत नहीं है? आखिर संस्कृति एक ऐसी चीज़ होती है, मशहूर लेखिका महादेवी वर्मा के अनुसार, जो हमें संरक्षित करती है, और जब हम कहते हैं कि हम उसको लिपिबद्ध करेंगे या उसको बचाएँगे तो हम ज़रूर कोई बहुत ही अहंकारी बात कह रहे होते हैं। हम संस्कृति को बचाने की सोचते हैं जबकि संस्कृति हमें बचाती है।

एक अजीब-सी दुविधा 'लोक विरसा' को देखते हुए मुझे हुई। 'लोक विरसा' की एक और विशेषता यह है कि उसे पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति ने उद्घाटन के समय पाकिस्तान की औरतों के सुपुर्द किया था। वह पाकिस्तान की औरतों के प्रति समर्पित है। जब आप 'लोक विरसा' से निकलते हैं तो अलग से एक बहुत सुंदर चित्र से गुज़रते हैं जहाँ फ़ैज़ की दो पंक्तियाँ दर्ज़ हैं और उनके ऊपर झूले में झूलती हुई एक लड़की का चित्र है। इन पंक्तियों का विषय आरजू है। पंक्तियों को पढ़ते समय हम आरजू का यह दार्शनिक मायना समझ पाते हैं कि उसके ज़रिए ही हम कोई नई तस्वीर बना सकते हैं, देख सकते हैं, कल्पना कर सकते हैं भले हमारा यथार्थ कितना ही टूटा-फूटा, बिखरा हुआ, कैसा भी हो। इन तमाम स्मृतियों के साथ

‘लोक विरसा’ देखकर जब मैं उस यात्रा के बाद पाकिस्तान से लौटा तो तुरंत ही कई चुभते हुए सवाल मेरे मन में पैदा हुए। शायद सबसे बड़ा सवाल यही था कि ‘लोक विरसा’ की सुंदरता को गाँव की गरीबी, फटेहाली, गंदगी, बीमारी इन सबके साथ कैसे जोड़ें? कैसे वह संतुलन अपने मन में बिठाऊँ कि यह चीज़ वही है या उसी का एक आंतरिक चेहरा है जिसका बाहरी चेहरा इतना भयानक है। इतना भयानक है कि हमारी कल्पना के हाशिए के बाहर है - भारत में भी, पाकिस्तान में भी, और दक्षिण एशिया के अन्य देशों में भी। तब से यह सवाल मुझे लगातार डसता रहा है कि गाँव क्या चीज़ है आखिर और अगर हम गाँव के बारे में सोचें तो उस द्वन्द्व से कैसे बचें जो गाँधी और अम्बेडकर के बीच पैदा हुआ था ? जब आप गाँव के बारे में सोचते हैं या गाँव जाते हैं खासकर, अगर आप मेरी तरह से शिक्षा में एक पेशेवर की भूमिका की वजह से गाँव जाते हैं तो आप दो ही रूपों में गाँव जा सकते हैं। एक होता है ‘समाज सुधारक’ का रूप जो कहता है कि वहाँ जाकर कुछ ठीक करना है, कुछ सुधारना है, और दूसरा होता है एक ‘रोमांटिक’ का रूप कि यहाँ कुछ भी सुधारने की ज़रूरत नहीं क्योंकि गाँव में तो हर चीज़ गहराई पर बहुत ही सँवरी हुई है, सुंदर है और यही भारत की आत्मा है। यही गाँधी और अम्बेडकर के बीच का द्वन्द्व है। एक तरह की वैचारिक गुथी स्वतंत्रता संग्राम के इन दो महान योद्धाओं के बीच बनी जो सोच के बारे में सोच के दो दायरे हमारे पास छोड़ गई है। एक तरफ हमारे पास गाँधी का विचार है कि भारतीय गाँव एक सुंदर वृक्ष है। उसकी अपनी एक संस्कृति थी जिसमें सीखने की व्यवस्था भी थी। दूसरी तरफ है अम्बेडकर द्वारा दी गई गाँव की आलोचनात्मक छवि है, अंधविश्वास, गरीबी और शोषण के ठहरे हुए तालाब की तरह। हम यह मान कर चल सकते हैं कि इन दोनों ही महान विचारकों के विचार में सच होगा।

इसलिए मुझे यह ज़रूरी लगता है कि हम लोग जब शिक्षा के दृष्टिकोण से अपने देश की समस्याओं पर विचार करें तो गाँव को लेकर अपना मन कुछ साफ करें और यह स्पष्ट करें कि गाँव को किस

तरह समझा जाए। इस सिलसिले में मुझे 'लोक विरसा' की स्मृति लगातार यह सोचने के लिए प्रोत्साहित करती है कि गाँव को लेकर हमारा संज्ञान ही शायद गलत है। गाँव और शहर दो ऐसी श्रेणियाँ हैं जो दो हैं ही नहीं, क्योंकि जो चीज़ हम आज गाँव पर प्रक्षेपित करते हैं यह कहते हुए कि वहाँ पर गरीबी है, अंधविश्वास है, निरक्षरता है, अज्ञान है, उत्पीड़न है, इत्यादि, वही सब शहर में भी है। शहर में हमें वह दिखाई नहीं देता या हम एक तरह से उसको अनदेखा कर देते हैं। उन बस्तियों में खासकर अनदेखा करते हैं जो हमने बड़े ध्यान से बनाई हैं और जिनको हम नियोजित बस्तियाँ कहते हैं जैसे द्वारका एक नियोजित बस्ती है। आप कह सकते हैं कि दक्षिण दिल्ली के अनेक इलाके नियोजित बस्तियाँ हैं। ये शहर के वे इलाके हैं जहाँ आधुनिक भारत अपने दिमाग का, राज्य का, राज्य की ताकत का इस्तेमाल करता है। अन्त में गाँव वहाँ ठहरता है जहाँ शहर खत्म होता है। जहाँ नियोजित शहर की चौहद्दी खत्म होती है, वहीं से गाँव शुरू होता है। वह गाँव हमेशा ही हाशिए पर होता है। गाँव में कोई नियोजन काम नहीं करता जैसे कि दिल्ली की मुख्यमंत्री कई बार कह चुकी हैं कि हमारे सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि हम दिल्ली की शिक्षा व्यवस्था को कैसे सुधारें जब प्रतिदिन हजारों की तादाद में देशभर के टूटते और बिखरते गाँवों से लोग लगातार दिल्ली में आ रहे हैं। उन लोगों के बच्चे भी साथ आते हैं। उन बच्चों की संख्या लाखों में होती है जो एक वर्ष में दिल्ली की जनसंख्या में जुड़ जाते हैं। कोई कितनी ही योग्य सरकार हो, कितना ही ध्यान रखने वाली उसकी नौकरशाही हो लेकिन गाँव का टूटना और शहर में आकर उसका चिपक जाना, जुड़ना एक ऐसी घटना है जो लातीनी अमेरिका से लेकर अफ्रीका, दक्षिण एशिया अर्थात् दुनिया के उन तमाम इलाकों में दिखलाई देती है जो उपनिवेशवाद की चपेट में आए। ये सभी देश उस चपेट से अपनी कल्पना को आज भी मुक्त नहीं कर सके हैं। क्या करें गाँव का ? क्योंकि गाँव को लेकर हम जब भी चर्चा शुरू करते हैं तो लगता है कि वह तो 'वहाँ' है और हम 'यहाँ' हैं। शहर हमारा यहाँ है, हमारे मन का यहाँ है और 'वहाँ' हम दिन में जाते हैं, रात को वहाँ से लौट आते हैं।

मेरे अजीज मित्र और अधिकारी स्वर्गीय सुदीप बनर्जी<sup>1</sup> बताते थे कि एक ज़माना था जब प्रशासनिक सेवाओं में आने वाले लोगों के लिए जरूरी होता था कि वे हर हफ्ते कम से कम एक रात गाँव में बिताएँ। उम्मीद रखी गई थी कि अधिकारी दौरे पर जाएँ पर शाम को लौटें नहीं, और यह भी उम्मीद न करें कि जिस गाँव में जा रहे हों वहाँ कोई विश्राम गृह होगा। उनका कहना था कि अंग्रेजों के समय में तो यह व्यवस्था थी ही पर आजादी के बाद भी कम से कम बीस-तीस साल रही कि प्रशासनिक अधिकारी या अन्य अधिकारी शाम को सप्ताह में कम से कम एक रात घर न लौटें। उनका सोचना था कि यह अधिकारियों के लिए एक तरह की शिक्षा थी जिससे वे गाँव के सम्पर्क में रहें। यह जो गाँव का 'वहाँ' है इसको लेकर भविष्य की कोई कल्पना भी नहीं है जो गाँव को गाँव रहने दे। हम अपने मन में गाँव के भविष्य का स्वरूप शहर जैसा ही बनाते हैं। गाँव का विकसित होना शहर सरीखा दिखने लगना है। इस मान्यता के अनुसार उसमें वे लक्षण दिखने लगने चाहिए जो शहरीकरण के लक्षण होते हैं और इसी आधार पर यह तय होता है कि कोई गाँव कितना विकसित हो गया है, उस व्यवस्था से वह कितना जुड़ गया है जो राष्ट्रीय है और अन्तर्राष्ट्रीय भी है; गाँव उस व्यवस्था के कितना भीतर पहुँच गया है। गाँव को लेकर हमारी कल्पना में न केवल 'वहाँ' और 'यहाँ' का फर्क है बल्कि 'कल' और 'आज' का भी फर्क है। भारत का आज और भविष्य का कल उसके शहरों में दिखलाई देता है और गाँव से यही अपेक्षा की जाती है कि अगर वह भारत के विकास में एक बाधा बनने नहीं जा रहा है, जैसे कि आज छत्तीसगढ़ के अनेक गाँव हैं, जहाँ भयानक हिंसा से भारत जूझ रहा है, झारखण्ड के तमाम गाँव हैं, तो वे सब कल के दिन या कल नहीं तो परसों और परसों नहीं तो नरसों शहर जैसे दिखने लगेंगे और इस व्यवस्था में कहीं शामिल हो जाएँगे।

ये बहुत बड़े सवाल हैं। इन सवालों में जितना गहरे आप जाते हैं उतनी अनिवार्य यह बात दिखने लगती है कि जिस अहिंसा के जरिए गाँधी जी ने और उनके साथ कमला देवी जी जैसे विचारशील लोगों ने एक कल्पना की थी, वह कल्पना बगैर हिंसा के पूरी होने वाली नहीं



है। यह वैसा सवाल है जिसके नज़रिये ऐसा लगता है कि हिंसा के ज़रिए दुनिया को बदलने का और दुनिया को सभ्य बनाने का, रहने लायक बनाने का; साहब की नज़र में एक सुंदर जगह, साफ सुथरी जगह बनाने का जो स्वप्न पिछले चार सौ वर्षों में उपनिवेशवाद के ज़रिए सारी दुनिया में फैला, उस स्वप्न में हम भी शामिल हैं। हमारे पास फिलहाल देखने के लिए कोई ऐसा स्वप्न नहीं है जो गाँव का आज और भविष्य किसी अलग ढंग से निर्धारित कर सके। यह सवाल में उठा रहा हूँ क्योंकि जितने भी लोक कलाओं से, दस्तकारियों से जुड़े हुए प्रश्न हैं, वे सब अंततः कहीं न कहीं उस सामुदायिकता की समस्याएँ हैं जिसमें भारत का गाँव आज शामिल नहीं है। जब हम भारत को एक समुदाय के रूप में आज कल्पित करते हैं या दक्षिण एशिया को एक इकाई के रूप में कल्पित करने की कोशिश करते हैं तो वह मुख्यतः एक शहरी समुदाय होता है। वह एक ऐसा शहरी समुदाय होता है जो पढ़ा-लिखा है, उस ढंग से पढ़ा लिखा है जिस ढंग से भारत और पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका के अभिजन एक दूसरे से मिलते-जुलते महसूस करते हैं। हिन्दी कवि रघुवीर सहाय ने अपनी कई कविताओं में इस तकलीफ को अभिव्यक्त किया था कि वे लोग कौन हैं जो आसानी से पाकिस्तान का “बीज़ा” पा जाते हैं और वे कौन हैं जो कि कई-कई दिन, कई-कई हफ्ते बीज़ा की खिड़की के बाहर खड़े रहते हैं पर जिनको वह बीज़ा नहीं मिलता। ऐसा ही पाकिस्तान में भारतीय दूतावास के बाहर की खिड़कियों पर होता है। रघुवीर सहाय की पंक्ति याद दिलाती है उस यथार्थ की :

**‘दो पार पत्र उसको जो उड़कर जाए,  
दो पार पत्र उसको जो उड़कर आए।’**

हमारे देश अपनी आंतरिक विषमताओं से भी इतने त्रस्त हैं, इतने घिरे हुए हैं कि उनके सामने किसी इस तरह के समुदाय की कल्पना करना बहुत मुश्किल हो गया है जिसमें विषमताओं की पड़ताल गाँव और शहर की श्रेणियों का प्रयोग किये बगैर की जा सके। यह सवाल

दरअसल सिर्फ़ भारत का नहीं है, यह सवाल पूरी दुनिया के लिए है। ब्रितानी चिंतक और समालोचक रेमंड विलियम्स<sup>2</sup> ने इस विषय पर अपनी किताब में इसे बीसवीं सदी का एक स्पष्ट सूत्र बताया है कि गाँव की अर्थव्यवस्था और गाँव से आने वाले विचारों, के बीच विलोम का अनुपात है। वे विचार जो मूलतः गाँव से निकले हैं जैसे-जैसे शहर की सभ्यता में प्रवेश पाते जाते हैं, वैसे-वैसे गाँव की अर्थव्यवस्था भी कमज़ोर पड़ती जाती है। यह प्रश्न यूरोपीय देशों में आज इसलिए नहीं रहा कि उन्होंने अपने गाँव को लगभग नष्ट ही कर दिया है और वे जिसे आज विकास का मानक कहते हैं, उसमें गाँव बहुत ही सीमित या हाशिये पर हैं। किसी देश में दो प्रतिशत, कहीं तीन प्रतिशत जनसंख्या गाँव में निवास करती है। फ्रांस ही एक यूरोपीय देश है जहाँ ग्रामीण जनसंख्या थोड़ी अधिक है और यह निश्चित ही अध्ययन का विषय है कि ऐसा क्यों है। जहाँ तक भारत का सवाल है, रोज़ ही इस तरह के आँकड़े आते रहते हैं जो दिखाते हैं कि अगले बीस-तीस वर्षों में भारत की जनसंख्या का बहुलांश उसके शहरों में रहने लगेगा। पाकिस्तान में यह प्रक्रिया आगे बढ़ चुकी है और वहाँ अब आधी से कम जनसंख्या गाँव में निवास करती है।

क्या मायने हैं इन तमाम परिवर्तनों के और किस तरह ये हमारे देशों की सभ्यता को, उस सभ्यता में निहित कल्पनाओं को, प्रभावित करेंगे ? ये प्रश्न आज कमलादेवी जी की स्मृति में उठाना मुझे बेहद प्रासंगिक लगता है क्योंकि जिस चीज़ को हम नई कल्पना का माध्यम मानते हैं या नई सोच के विकास का जरिया मानते हैं, वह चीज़ स्वयं इस बहुत बड़ी विसंगति और इस बहुत बड़े अन्तर्विरोध में योगदान देती है। वह चीज़ है शिक्षा। एक छोटी सी कहानी जैसी है जो ब्रिटिश पत्रिका *इकनॉमिस्ट* ने अभी कुछ महीने पहले प्रकाशित की थी। अमेरिका का एक पत्रकार दक्षिण डेकोटा, जो अमेरिका के कम विकसित प्रदेशों में गिना जाता है, के एक गाँव का स्कूल देखने गया। उसने देखा कि स्कूल की हालत तो बहुत अच्छी नहीं है लेकिन उसको वहाँ के किसी आदमी से मालूम चला कि अब एक अच्छा अध्यापक वहाँ आ गया

है। इस पत्रकार ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि उसे वहाँ घूम फिरकर, लोगों से बात करके यह समझ में आया कि यह अच्छी बात है और बच्चों के लिए अच्छी ख़बर है क्योंकि अगर स्कूल अच्छे से चलता है तो बच्चों को भली प्रकार पढ़ाया जायेगा, लेकिन इससे यह तय हो जाएगा कि लायक बच्चे गाँव में नहीं रहेंगे।

यह बहुत बारीक-सी बात है जो सारी दुनिया में दिखलाई देती है और हमारे अपने गाँवों में भी, खासकर उन प्रदेशों के गाँव में जो विकसित कहे जाते हैं, जैसे तमिलनाडु, गुजरात और आंध्र प्रदेश, कर्नाटक। आप पाएँगे कि कई गाँव ऐसे हैं जहाँ अब केवल वृद्ध लोग रह गए हैं और सभी युवा अब शहर चले गए हैं या विदेश चले गए हैं। उनके पक्के मकान, जो उन्होंने अपने माता-पिता के लिए बनवाये थे, खाली पड़े हैं क्योंकि माता-पिता भी अब जीवित नहीं हैं। यह पूरा परिदृश्य हमको याद दिलाता है कि शिक्षा की संकल्पना करते समय हमारे लिए इन प्रश्नों से नए सिरे से टकराना कितना ज़रूरी है।

कुछ इस तरह के प्रयास पिछले पाँच-साढ़े पाँच वर्षों में मुझे राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, में खासकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) के काम के तहत, देखने का मौका मिला। जब 2005 की पाठ्यचर्या का जिक्र होता है तो मुझको याद आती है उन तमाम विवादों की और उन तमाम संघर्षों की जो इस दस्तावेज़ को बनाते हुए हज़ारों लोगों के बीच उभरे। इनमें से शायद सबसे महत्वपूर्ण विवाद इसी विषय को लेकर था कि अगर भारत की शिक्षा के लिए कोई नया पाठ्यक्रम, कोई नई पाठ्यचर्या भारत के लोग अपने आप को देना चाहते हैं जो स्थापित पाठ्यक्रम से थोड़ा भिन्न हो तो उसमें गाँव का क्या स्थान होगा। प्रश्न महत्वपूर्ण था क्योंकि आखिर आज भी भारत की साठ प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गाँव में निवास करती है। अगर कोई भी पाठ्यचर्या ऐसा दावा करती है कि वह भारत में मौलिकता को, खासकर सृजनशीलता को, बढ़ावा देगी और इस दमघोंटू, दबाव डालने वाली औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था से मुड़ने का रास्ता देगी तो ऐसी पाठ्यचर्या गाँव की उपेक्षा करके नहीं बनायी जा सकती। फिर गाँव के

वे क्या-क्या अर्थ हैं जिनके जरिए ऐसी शिक्षा और पाठ्यक्रम कोई नयी कल्पना दे सके। ये सवाल उन तमाम इक्कीसों राष्ट्रीय फोकस समूहों में और स्वयं राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा की राष्ट्रीय समिति में बार-बार उठे। मैं दो फोकस समूहों का विशेष जिक्र करना चाहूँगा- एक 'हस्तशिल्पों की धरोहर' का जिसकी अध्यक्ष लैला तैयब जी थीं और दूसरा 'आवास और सीखना' जिसके अध्यक्ष माधव गाडगिल थे और जो पर्यावरण की शिक्षा के संदर्भ में काम कर रहा था। इन दोनों ही फोकस समूहों की रिपोर्ट अगर आप पढ़ें तो आप को यह एहसास होगा कि ये बहसें कितनी गहरी, किस कदर उलझी हुईं और कितनी दुविधाओं से ग्रस्त हैं। आखिर जो भी कल्पना हम करेंगे शिक्षा में उसको आज के संदर्भ में ही कहीं न कहीं अमली जामा पहनाया जाना है। बहुत सी कल्पनाएँ शिक्षा के इतिहास में की गई हैं, लेकिन क्या कोई ऐसी कल्पना की जा सकती है जो आज के इतिहास में कहीं हस्तक्षेप कर सके बगैर इस बात का आरोप अपने ऊपर लगवाए हुए कि यह तो एक पुरानी चीज़ को दोबारा लाया जा रहा है।

अब आप समझ गए होंगे कि कौन सी पुरानी चीज़ को दोबारा लाने का आरोप इस तरह की बातों पर हुआ होगा। आपको मालूम है कि शिक्षा को हस्तकलाओं से जोड़ने और शिक्षा को उत्पादक एवं रचनात्मक बनाने की पैरवी करने वाले आधुनिक भारत के सबसे बड़े वकील महात्मा गाँधी थे। आज जब भी आप गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा का जिक्र करते हैं तो सुनने वालों की सबसे पहली प्रतिक्रिया यही होती है, चाहे वे अफसर हों, अध्यापक हों या सामान्य नागरिक हों कि एक बार यह चीज़ असफल हो चुकी है अब आप दोबारा क्यों इसका जिक्र कर रहे हैं। उनका आशय यह होता है कि हमारी व्यवस्था में तो एक बच्चा एक बार जब असफल हो जाए तो फिर असफल ही होता रहता है। उसको फिर परीक्षा में दोबारा बैठाने का क्या मतलब है? यह व्यवस्था है ही ऐसी कि लगातार विचारों को सरकाती रहती है और बच्चों को भी फेल करती रहती है तो इसी नाते गाँधी जी के द्वारा दिए गए विचार की ओर हम दोबारा क्यों देखें? राष्ट्रीय पाठ्यचर्या (2005) के दौरान हम

लोगों के सामने एक बड़ी चुनौती थी कि हम गाँधी के विचार से प्रेरणा तो ग्रहण करें लेकिन कहीं ऐसे न दिखें कि हम सीधे-सीधे बुनियादी तालीम को वापिस ला रहे हैं। ऐसा करने का जोखिम कोई सरकारी संस्था आज कैसे उठा सकती है? आप सोच सकते हैं कि जो विचार बाकायदे कोठारी कमीशन के भारी भरकम दस्तावेज़ के ज़रिए औपचारिक रूप से दफनाया गया हो, उस विचार को पचास साल बाद दोबारा कैसे लाया जा सकता है, बगैर जबरदस्त आलोचना का शिकार बने हुए। वैसे भी मेरी संस्था कई विवादों और आलोचनाओं से घिरी हुई थी। बहरहाल, यह दस्तावेज़ बना और 'हस्तशिल्पों की धरोहर' के राष्ट्रीय फोकस समूह के ज़रिए यह बात हर विषय के पाठ्यक्रम निर्माताओं और पाठ्य पुस्तकों की रचना करने वालों के ज़ेहन में लाई गई कि जहाँ जगह मिले, वहाँ पर कला को और लोक परम्पराओं को स्थान देना है। चाहे आप हिन्दी की बात कर रहे हों, चाहे आप अंग्रेज़ी की पढ़ाई की बात कर रहे हों या इतिहास की कर रहे हों, कहीं न कहीं इनको स्थान दीजिए क्योंकि यह शिक्षा की आत्मा हैं। इनको शिक्षा के भीतर होना चाहिए। हमारे स्कूलों में जिस तरह कला अतिरिक्त गतिविधियों की तरह गिनी जाती है, वैसे अब नहीं होगा। यह बात राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) के दस्तावेज़ में लिखी गई। खासकर दस्तकारियों को लेकर यह सवाल इधर के वर्षों में मेरे मन में लगातार रहा है कि इनका शैक्षिक उपयोग किस तरह समझा और समझाया जाए? जहाँ तक कला का सवाल है, एक आधिकारिक अर्थ में कहा जाता है कि यह तो 'आर्ट' है, यानि कि संगीत, नाटक, नृत्य। इनको आप मत छोड़िए, ये तो जिस तरह से जो लोग जानते हैं, करेंगे। शुभा मुद्गल जी की अध्यक्षता में कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच के राष्ट्रीय फोकस समूह ने एक आधार पत्र बनाया। उसमें भी यह बात कही गई कि शास्त्रीय और लोक का जो फर्क कला में किया जाता है, बिल्कुल गलत और व्यर्थ है। इसके चलते ऐसा कोई पाठ्यक्रम ठीक से नहीं बन सकता जो भारत में कला और ज़िंदगी के जोड़ को दोबारा परिभाषित कर सके। यह बात बहुत स्पष्टता से इस समूह के आधार पत्र में लिखी हुई

है। लेकिन यह कोई आसान काम नहीं है कि आप इम्तिहान पर आधारित सीबीएसई द्वारा संचालित इतनी बड़ी व्यवस्था में कोई ऐसी चीज़ ले आएँ जो कलाओं को शेष पाठ्यक्रम से सीधे सीधे जोड़ दे। यह संघर्ष अभी शुरू ही हुआ है और ज़ाहिर है कि बहुत लम्बा चलेगा।

जहाँ तक दस्तकारियों का सवाल था, इसको लेकर 'हस्तशिल्पों की धरोहर' के फोकस समूह ने एक अनुशांसा की थी कि इसको एक अलग विषय की भी संज्ञा दी जाए, खासकर ग्यारहवीं-बारहवीं के स्तर पर। यह काम हम लोगों ने राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद में किया भी। यहाँ मेरे वे सहयोगी भी मौजूद हैं जिन्होंने कक्षा ग्यारह और बारह का पाठ्यक्रम बनाने में पहल की, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद की मदद की और आज यह पाठ्यक्रम देश के कुछ स्कूलों में लागू है। इसको देखते हुए भी एक प्रशासक के रूप में मेरे मन में लगातार यह सवाल रहा कि अगर मुझे यह समझाना पड़े कि इन चीज़ों को सीखने से क्या फायदा होता है तो मैं एक मध्यम वर्गीय माता पिता को कैसे समझाऊँगा, खासकर उस बड़ी तस्वीर के मद्देनज़र कैसे समझाऊँगा, जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में गहराई से बनाने की कोशिश की गई है। इसको प्रोफेसर यशपाल ने बहुत संक्षेप में समझाया है कि हिन्दुस्तान की शैक्षिक गरीबी उसने खुद ही अपने ऊपर ओढ़ रखी है। यह स्वयं पर थोपा हुआ दुर्भाग्य है। इस से हम उबर सकते हैं अगर हम निश्चय कर लें तो। यह तो हमारी अपनी आज़ादी पर बल देने का प्रश्न है। हमें कोई नहीं रोकता, कोई रोक भी नहीं सकता अगर हम निश्चय कर लें तो।

उस बड़े चित्र के संदर्भ में यह कैसे समझा जाए कि लोक कलाओं का, दस्तकारियों का शैक्षिक आधुनिकता से क्या संबंध है? इस विषय पर विचार करते हुए मुझे कई चीज़ें समझ में आना शुरू हुईं। अब्बल तो यह कि दस्तकारियों का आधुनिक शिक्षण शास्त्र के साथ इतना गहरा संबंध है कि जब आप पश्चिम में पिछले दो-तीन सौ सालों में विकसित हुए आधुनिक शिक्षण शास्त्र पर विचार करेंगे तो आपको लगता है कि वह मुख्यतः गाँव के जीवन से आया है। उस जीवन से

जुड़ी हुई कई चीजें उसमें एक शास्त्रीय रूप पा गई हैं। मिसाल के तौर पर आप देखेंगे कि सीमित साधनों से कोई चीज़ बनाना या अपनी रचनात्मकता को साधनों की बहुलता पर निर्भर न बनाना, हर साधन का गहरा से गहरा प्रयोग करना और जो भी परिवेश है, उस के भीतर ही साधन ढूँढना, कहीं बाहर से न लाना, ये चीज़ें हैं जो पेस्टोलाँजी से लेकर प्रोबेल और मॉण्टसेरी तक को जोड़ती हैं। हमको अगर बच्चों को कोई रचनात्मक अनुभव देना है तो उसके लिए विपुल सामग्री एकत्र करने की आवश्यकता नहीं है। वह एक सीमित परिवेश के भीतर अपनी कल्पनाशीलता को जाग्रत करने की चुनौती है यानि किसी चीज़ को देखकर उसके कितने रूप हम कल्पित कर सकते हैं जिनकी मदद से हम बहुत सी चीज़ें बच्चों को पढ़ा सकें या जो चीज़ें उनके भीतर हैं उनको अभिव्यक्त करवा सकें। बहुत कुछ ऐसा लगता है कि जैसे यही बुनियादी तालीम को प्रस्तावित करते हुए गाँधी की कल्पना थी और जिसको उन्होंने अपने 'हिंद स्वराज' में एक राजनैतिक रूप में रखा था। जब हम गाँव पर विचार करते हैं तो उस रूप से बहुत ज्यादा संचालित न हों जो हमें आज दिखाई देता है और एक विखंडित, टूटा-फूटा, गंदगी, कुपोषण और तमाम तरह की समस्याओं से ग्रस्त गाँव है। सोचकर देखें कि यह दरअसल सांस्कृतिक रूप में किस तरह की इकाई रहा होगा। किस युग में रहा होगा, वह भी हम नहीं कह सकते। कब टूटना शुरू हुआ होगा यह भी हम नहीं कह सकते। फिर भी क्या हम उसके भीतर कोई ऐसे तत्व ढूँढ सकते हैं जो रचनात्मक रहे हों?

वे तत्व गाँधी को लोक कलाओं और दस्तकारियों में मिले और उनको लगा कि अगर इनको शिक्षा की संकल्पना के केंद्र में रख दिया जाए तो बहुत संभव है कि शिक्षा व्यवस्था और गाँव की अर्थ व्यवस्था जी उठे। हो सकता है कि चिड़ियाँ फिर से गाने लगें। जिस व्यक्ति को गाँधी ने बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाने की जिम्मेदारी सौंपी थी, स्वर्गीय डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि उन तमाम स्कूलों में जहाँ यह व्यवस्था लागू की गई, कोई चिड़िया गाती हुई सुनाई नहीं देती। यह सवाल उनके व्याख्यान से भी उभरता है कि जरूर हमने उस विचार को लागू करने में कोई गलती की। हम उसको शिक्षा का आधार

बनाने में असमर्थ रहे, उसको एक विषय की तरह देखते रहे। इसी सिलसिले में 'हस्तशिल्पों की धरोहर' के फोकस समूह ने और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के मुख्य दस्तावेज़ ने यह बात रखी कि अगर बच्चों को उस दस्तकारी का एक अंदाज़ मिलना है, एक स्पर्श मिलना है, उनको कुछ सीखना है तो मेहरबानी करके इसके लिए किसी अध्यापक को प्रशिक्षित मत कीजिए। देश के कोने कोने में जो दस्तकार आज भी जीवित हैं, बावजूद समस्याओं और तमाम किस्म की आर्थिक परेशानियों के, उन्हीं को स्कूल में सम्मानपूर्वक जगह दीजिए। यदि दस्तकार को निवासी कलाकार के रूप में स्कूल में शामिल किया जाए तो बच्चे उसके आस पास बैठेंगे, देखेंगे, अपने आप कई चीज़ें होना शुरू होंगी। यह बहुत बड़ी कल्पना है। इसमें बहुत बड़ी समस्याएँ हैं खासकर यह जो बात है कि उसको एक सम्मानजनक जगह देनी चाहिए, यह बात अपने आप में एक बहुत बड़ी सरकारी कोशिश की माँग करती है जो हमें उम्मीद है कि आने वाले समय में जरूर पूरी होगी।

आइए, हम दस्तकारी को शैक्षिक दृष्टिकोण से देखें और विचार करें कि दस्तकारी क्या है? वह हाथों का कमाल है। अगर आप आधुनिक शिक्षण शास्त्र की गहराईयों में जाएँ तो आप देखेंगे कि हाथ और दिमाग को जोड़ना, यही इस शिक्षण शास्त्र में सबसे बड़ा सवाल रहा है खासकर मारिया मॉण्टेसरी और अन्य कई चिंतकों के लिए, कि बच्चे के शरीर और उसके दिमाग के विकास को साथ-साथ कैसे रखें। औद्योगिक सभ्यता, बड़े-बड़े कारखानों पर आधारित सभ्यता शरीर और दिमाग को जुदा कर देती है, एक दूसरे से काट देती है और वह अलगाव पैदा करती है जिसको मार्क्स ने एलियनेशन की संज्ञा दी थी। उस अलगाव को अगर दूर करना है तो हमें बहुत छुटपन में ही बच्चों के हाथ को उनके दिमाग से जोड़ना होगा। यह रास्ता संगीत के ज़रिए, नाटक के ज़रिए और हाथों से सुंदर चीज़ें बनाने के ज़रिए खुलता है। ऐसा किसी उद्देश्य के लिए नहीं करना है कि इसके ज़रिए हम भौतिक शास्त्र बेहतर सीख जाएँगे। यह तो अपने आप में एक संपूर्ण शिक्षा है। जैसा देवी प्रसाद जी ने अपनी पुस्तक में कहा है कि यह



‘शिक्षा का आधार’ है। यह शिक्षा का माध्यम नहीं है, साधन नहीं है यह उसका आधार है। अगर हम इसको उस रूप में स्वीकार करते हैं तो फिर हमको बहुत-सी चीजों पर पुनर्विचार करना होगा। हमारे स्कूलों में तमाम कठोर व्यवस्थाएँ हैं, जैसे टाइम टेबल की और इम्तिहान की। जिस तरह से आज हम बच्चों के साथ व्यवहार करते हैं, उसे उलट कर नए सिरे से सोचना होगा क्योंकि हमने पूरी व्यवस्था को एक सख्त सरकारी रूप दे दिया है। हमारे स्कूल दफ्तरों की तरह चलते हैं, और दफ्तरों की तरह ही बंद होते हैं। हमारे स्कूल बहुत कुछ कारखानों की तरह भी चलते हैं। आज बहुत से नामी स्कूल अपने को वातानुकूलित वातावरण में चलाते हैं। बच्चे वहाँ पर सामान्य हवा भी नहीं महसूस कर पाते तो साधारण जीवन को किस तरह देख पाएँगे। विचारों की एक बहुत बड़ी गरीबी इन अमीर स्कूलों ने अपने ऊपर ओढ़ ली है और उनको यह समझाना भी बड़ा मुश्किल हो गया है कि शिक्षा की राह से बहुत ज़्यादा भटक गए हैं। ऐसे स्कूलों से कहने का मन करता है कि मेहरबानी करके किसी से पूछ लीजिए, कर क्या रहे हैं आप? जब आदमी भटक जाता है तो उसके लिए एक ही रास्ता होता है कि वह पूछे किसी से कि भई, मैं कहाँ आ गया हूँ? मैं द्वारका पहुँचा कि नोएडा पहुँचा? लेकिन यह बात आज के समय में उन स्कूलों को जो भारत के सबसे साधनसंपन्न स्कूल समझे जाते हैं, उनके लिए समझ में आना बहुत मुश्किल है। मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता है कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद की वे तमाम पुस्तकें, जिनमें ग्रामीण जीवन को बहुत ज़्यादा गहराई से जगह दी गई है, उन्हें बहुत से स्कूलों ने इस्तेमाल करना इसलिए बंद कर दिया है क्योंकि उनको लगता है कि इनमें तो गाँव की बात है और हम शहर में हैं।

मुझे लगता है कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की नई पाठ्यचर्या में जो भी जगह हाथ के काम के लिए रखी गई है, वह आज के स्कूल के सामने बहुत समय तक जरूर एक चुनौती बनी रहेगी। स्कूल की पूरी व्यवस्था में एक तरह का प्रतिरोध उसको लेकर आज है और बना भी रहेगा। मुश्किल से कोई दस-बारह स्कूल

हैं जिन्होंने ग्यारहवीं-बारहवीं के स्तर पर यह नया विषय लिया है या जिन्होंने कक्षा एक से लेकर बारहवीं तक की पढ़ाई में कला और हस्तकौशलों को कुछ-कुछ जगह देने की कोशिश की है। उनकी इस कोशिश से बाकी विषयों के प्रशिक्षण की नीरसता भी किसी हद तक दूर होगी, टूटेगी।

आखिरी बात, दस्तकारियों में, लोक कलाओं में, इन परंपराओं में प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता एक अलग तरह की गहराई लिए हुए है। आज हम प्रकृति को बहुत बड़े पैमाने पर नष्ट कर रहे हैं और उस विनाश में ही विकास का रास्ता देखते हैं। हमारे लिए बहुत मुश्किल होता है यह समझना कि कैसे कोई खिलौना निर्माता या कोई दरी बनाने वाला एक-एक धागे का प्रयोग करता है। अगर वह नारियल से कुछ बनाता है तो नारियल की जटाओं से भी कुछ बनाता है और उस बनाने की प्रक्रिया में जो चीज़ें बिल्कुल ही बर्बाद मानी जाती हैं, उनसे भी अंत में कुछ बनता है। प्रकृति के साथ बहुत गहराई से जुड़े हुए मनुष्य का एक चित्र, एक दर्शन जैसा किसी भी लोक कला में आप देख सकते हैं। यह सीखने के लिए कि हम विश्व में अपने अस्तित्व को कैसे समझें, कलाएँ एक प्रकार का मीमांसात्मक संसाधन हैं। अपने अस्तित्व को बनाए रखने का ज़रिया भी हमें कलाओं से ही मिलता है। मानव का अस्तित्व एक ऐसी कहानी है जिसको अगर आप आज के पर्यावरण वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से देखेंगे तो आपको बहुत उदास करेगी। अगर आप परमाणु शक्ति के विशेषज्ञों के नज़रिए से देखेंगे तो आपको लगेगा कि इसका कोई भविष्य नहीं है; अगर दुनिया बच ही जाए तो बहुत है; उसका संवरना तो बहुत दूर का सपना लगता है। अगर आप इसको किसी लोक कला के दृष्टिकोण से देखें, उन तमाम दस्तकारियों के दृष्टिकोण से देखें जो आज यहाँ प्रदर्शनी में शामिल की गई हैं तो आपके मन में ये उम्मीद पैदा होगी कि 'हाँ, यह संभव है।' इस सपने को देखना संभव है और इस सपने कि लिए कोई जगह बनाना भी संभव है। एक बार जब वह जगह बन जाएगी तो फिर वह फैलती चली जाएगी। मुझे लगता है कि यही उस सामुदायिकता के पुनर्सृजन का या उसके पुनर्कल्पन का रास्ता है जिसकी

चर्चा मैंने कमलादेवी जी की स्मृति में इस व्याख्यान के शुरू में की थी। वह सामुदायिकता शहर और गाँव की श्रेणियों को नकारती है। किसी उग्रता के साथ नहीं, इत्मीनान से नकारती है, यह कहते हुए कि यह श्रेणीकरण एकदम गलत है या गलत आधार पर टिका हुआ है। अगर कोई भविष्य शहर का है तो वैसा ही भविष्य गाँव का भी बनाना जरूर किसी खतरे का संकेत है। हमको मनुष्य के ही भविष्य की बात करनी होगी, शहर या गाँव के भविष्य की नहीं या सिर्फ देश के भविष्य की नहीं जो किसी विचारधारा से जुड़ जाता है। नए सिरे से सोचना होगा कि अगर शिक्षा मनुष्य के और मनुष्य के ज़्यादा बड़े परिवार और समुदाय के लिए है जिसमें प्रकृति भी शामिल है, तो वह शिक्षा कैसी हो? उस शिक्षा को किस तरह उन साधनों की मदद से नए सिरे से रचा जाए जो साधन आज भी हमको भारत के, पाकिस्तान के, बांग्लादेश के, श्रीलंका के गाँव में कहीं-कहीं बिखरे, टूटे, किसी न किसी रूप में नज़र आते हैं और अपनी पूरी मानवीयता के साथ दिखलाइ देते हैं।

दो चीज़ें खासकर बड़ी चुनौती बनती हैं, एक तो जाति और दूसरी चीज़ जाति और लिंग-भेद का गठजोड़। ये दोनों ऐसे प्रश्न हैं जिनको लेकर आज़ादी के आंदोलन के दौरान बहुत गहराई से मंथन शुरू हुआ था और उस मंथन से ही वे तमाम विचार पैदा हुए थे जिनकी झलक हम बहुत से सोचने वालों में और काम करने वालों में देखते हैं, जिनका विचार था कि भारत में जब तक औरत के प्रश्न पर नए सिरे से विचार नहीं होता, उसके अस्तित्व, उसकी सामाजिकता, उसके अधिकारों पर विखंडित रूप में नहीं, बल्कि उसकी मनुष्यता के संदर्भ में नहीं होता, तब तक बहुत कम उम्मीद हम कर सकते हैं कि भारत में व्याप्त हिंसा कुछ कम होगी या कि विषमता को जीतने का संघर्ष लगातार कुछ बेहतर ढंग से चल पाएगा। ये दो ऐसे सवाल हैं जिन सवालों पर कमलादेवी जी की स्मृति हमको प्रेरित करती है। इस प्रेरणा के सामने कोई एक सूत्रीय कार्यक्रम बनाना अपने आप में बहुत बड़ी भूल होगी। उनके जीवन को देखकर ही समझ में आता है कि यह अनेक मोर्चों पर लड़ी जाती हुई लड़ाई है और वह अनेक मोर्चे अपने-अपने ढंग से

अपनी स्वायत्ता के साथ लड़े जाएँगे, शायद तभी कहीं कोई इस प्रश्न का हल निकलेगा कि भारत अपनी खोई हुई मौलिकता को कैसे दोबारा अर्जित करे। वरना, आज वह एक तरह की अनुकृति दिखाई देता है, नकल दिखाई देता है। भारत और पाकिस्तान, दोनों ही देशों के सामने यह प्रश्न था कि वे मौलिक कैसे बनें। आज बहुत से लोग कहते हैं कि अगर मोहम्मद अली जिन्ना जिनको पाकिस्तान कायदे आजम कहता है, पाकिस्तान लौटें तो वह काफी निराश होंगे यह देखकर कि उनका बनाया हुआ देश इतनी आंतरिक हिंसा का शिकार है। उसका वह आंतरिक चेहरा जो 'लोक विरसा' में संरक्षित किया गया है बड़ी मुश्किल से कहीं देखने को मिलता है। कुछ इसी तरह मैं राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के बारे में कई बार कल्पना करता हूँ कि अगर वह दिल्ली आएँ तो क्या वह भी अपने देश को देखकर निराश होंगे? इन दोनों ही नेताओं की निराशा के अलग-अलग आधार हो सकते हैं लेकिन हमें उन दोनों के दृष्टिकोण से जरूर इन देशों को दोबारा देखना चाहिए कि उन्होंने किस कल्पना के साथ अपने संघर्षों को आगे बढ़ाया और उस कल्पना के भीतर कितनी और तरह की चीजें जोड़ना हमारे लिए संभव हुआ। वे चीजें आज कहाँ हैं? अगर किसी समग्रता के साथ दक्षिण एशिया को दोबारा रचा जाना है जो इतिहास से उबरकर एक कदम बढ़ा सके, इतिहास से आगे निकल सके तो जरूरी होगा कि हम अपने चिंतन को उस तरह के बिखराव से दोबारा ग्रस्त न होने दें।

### (फुटनोट्स)

- 1 केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय में सचिव रहे सुदीप बनर्जी हिन्दी के प्रख्यात कवि थे।
  - 2 रेमंड विलियम्स, 'द कन्ट्री एंड द सिटी', ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973
- \* देवी प्रसाद, 'आर्ट: द बेसिस ऑफ़ एजूकेशन', नेशनल बुक ट्रस्ट, 1998

## सीसीआरटी - एक परिचय

भारत की बहुरूपी, समृद्ध, जीवंत सांस्कृतिक परम्पराओं एवं औपचारिक शिक्षा पद्धतियों के बीच अन्तर दूर करने हेतु मई, 1979 में सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (सीसीआरटी)की स्थापना की गई। इसका मुख्य ध्येय तथा उद्देश्य समस्त सांस्कृतिक स्रोतों को साथ रखते हुए शिक्षा पद्धति में औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा के सभी स्तरों को अन्तर्निहित करना है। उदाहरण के तौर पर पारम्परिक कलाओं - चाक पर मिट्टी का कार्य, कालीन-बुनना, छापा बनाना, सांचे बनाना, पुतली कला की विभिन्न विधाएं और नृत्य एवं संगीत के बहुरंगी रूप को न केवल इतिहास तथा सामाजिक विज्ञान व रन् गणित, रसायन एवं भौतिकी विज्ञान जैसे विषयों के संग शैक्षिक माध्यम के रूप में उपयोग में लाना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कई नवीन योजनाएं विकसित की गईं। कार्यक्रम के स्तर पर शिक्षा प्रशासकों एवं शिक्षक प्रशिक्षकों हेतु नियमित कार्यशालाओं; शिक्षकों हेतु अनुस्थापन एवं पुनश्चर्या पाठ्यक्रम तथा विद्यार्थियों हेतु कार्यशालाएं एवं शिविरों का आयोजन किया जाता है। सांस्कृतिक प्रतिभा तथा विद्वता की पहचान के लिये भारत सरकार की योजना हेतु सीसीआरटी एक मुख्य संस्थान के रूप कार्य कर रहा है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सीसीआरटी, सांस्कृतिक सामग्री को संग्रहित व प्रलेखित करता है एवं श्रुव्य-दृश्य किट तैयार करता है, जो विभिन्न विन्यासों में क्षेत्रीय संस्कृति अथवा विशिष्ट कला रूप के अध्ययन को प्रोत्साहित करता है और जिन लोगों ने इन कला रूपों की रचना की है, उनके विषय में जानकारी देता है।

एक संस्था के रूप में सीसीआरटी ने एनसीईआरटी और एससीईआरटी के साथ एक विस्तृत नेटवर्क (कार्यतंत्र) स्थापित किया है। आज इसके तीन क्षेत्रीय केन्द्र उदयपुर, हैदराबाद तथा गुवाहाटी में हैं।

सीसीआरटी ने भारत के शिक्षक एवं विद्यार्थी समुदाय में राष्ट्रीय एकता तथा सांस्कृतिक पहचान के आदर्शों को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समृद्ध तथा विविधतापूर्ण प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक धरोहर की इस धरा पर यह आवश्यक है कि भारत में आज का युवा अपनी तथा दूसरों की समृद्ध संस्कृति के प्रति एक गूढ़ समझ तथा सराहना की भावना को लेकर पल्लवित हो।

सीसीआरटी के जन्म का श्रेय, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय तथा डा. कपिला वात्स्यायन की दूर दृष्टि और प्रयासों को जो कि क्रमशः इसकी प्रथम अध्यक्ष व उपाध्यक्षा थीं और 1970 के दशक में भारत सरकार के शिक्षा, समाज कल्याण एवं संस्कृति, मंत्रालयों के सहयोग को जाता है।

**डा. कपिला वात्स्यायन**